अहिंसा-विश्वकोश
सम्पादक : नंदकिशोर आचार्य
प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर और भंवरलाल-कांताबाई जैन मल्टीपरपज़ फाउंडेशन, जलगाँव
पृष्ठ : 779; मूल्य : 1,500 रुपये (सजिल्द)

अहिंसक भविष्य के लिए

आलोक टण्डन

हिंसा थी और रहेगी। अहिंसा के लिए प्रयत्न हुआ है, हो रहा है और होता रहेगा। हिंसा और अहिंसा— दोनों की सत्ता त्रैकालिक है। हिंसा जितनी प्रबल होगी, अहिंसा के लिए उतना ही तीव्र प्रयत्न करना होगा। संसार में हिंसा कभी समाप्त नहीं होगी, यह सोच कर मनुष्य की अहिंसक चेतना ने कभी उच्छ्‌वास लेना बंद नहीं किया। हिंसा के मुक़ाबले में अहिंसा की शक्ति कम नहीं है। अपेक्षा है उस शक्ति को जगाने की। शक्ति का जागरण तभी सम्भव है, जब उसका बोध हो, शोध हो, प्रशिक्षण हो और प्रयोग हो।

— आचार्य तुलसी

धर्मयुग (16 फ़रवरी, 1994 : 7)

अहिंसा की शक्ति जगाने के लिए जिन चार शर्तों का ज़िक्र आचार्य तुलसी ने ऊपर किया है, उनमें से पहली दो की पूर्ति में समीक्ष्य कृति बहुत दूर तक सक्षम है। अहिंसा का यह प्रथम विश्वकोश अपने में एक अनोखा प्रयास है क्योंकि विषय केंद्रित विश्वकोश तो अनेक हैं, लेकिन किसी प्रत्यय-विशेष पर केंद्रित विश्वकोश बहुत कम। इसका महत्त्व इस बात से और भी बढ़ जाता है कि इसमें विभिन्न धर्मों और दर्शनों में विकसित अहिंसा के सिद्धांत तो हैं ही, साथ ही अहिंसा को एक बहुआयामी और अंतरानुशासनात्मक परिप्रेक्ष्य में भी देखा गया है जिससे अहिंसा की अवधारणा एक व्यापक धरातल पर स्थापित होती है। इससे जीवन के विविध आयामों में एक जीवन मूल्य के रूप में अहिंसा की हमारी समझ और गहराती है। उदाहरण के लिए, अर्थशास्त्र और पर्यावरण से जुड़े सवालों के लिए भी प्रासंगिक बनती है। इस स्तुत्य कार्य की सफलता के लिए जिस श्रम, लगन, पाण्डित्य और प्रतिबद्धता अपेक्षित थी, उसके लिए नंदकिशोर आचार्य निश्चय ही बधाई के पात्र हैं।

पुरोवाक् के रूप में अपने लम्बे शोधपरक आलेख द्वारा आचार्य ने अहिंसा को जीवन के नियम के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया है। यहाँ नियम शब्द का प्रयोग अवश्य कुछ भ्रम पैदा करने वाला है, क्योंकि कोई कह सकता है कि यदि अहिंसा ही जीवन का नियम है तो जगत में इतनी हिंसा क्यों? शायद सम्पादक का आशय 'नियम' शब्द के मूल्यपरक अर्थ की ओर है, किसी वैज्ञानिक नियम के रूप में नहीं। तभी तो वे अहिंसा को एक सार्वभौम सांस्कृतिक मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित

करना चाहते हैं और इसके लिए वे न केवल प्राचीन धर्मों अपितु विकासवाद, आधुनिक मनोविज्ञान और भौतिकी के सिद्धांतों को भी अपने पक्ष में खड़ा करने का प्रयत्न करते हैं। संस्कृति के एक मूर्धन्य विचारक के रूप में वे इस कार्य का सम्पादन जिन सारगर्भित तर्कों, तथ्यों और दृष्टि के माध्यम से करते हैं उसकी चर्चा में थोड़ा विस्तार अपेक्षित है क्योंकि यही वह वैचारिक नींव है जिस पर इस विश्वकोश की भित्ति का निर्माण हुआ है।

आचार्य की मान्यता है कि 'जिस तरह प्रत्येक व्यक्ति अपनी विशिष्ट आकृति और स्वभाव के बावजूद मूलतः मनुष्य है, उसी प्रकार सांस्कृतिक प्रक्रिया भी देशकालगत भिन्नता के बावजूद मूलतः मानव संस्कृति है।'[1] इसी सार्वभौम और सनातन रूप की पहचान जिस सार्वभौम और सनातन मूल्य से की जा सकती है वह अहिंसा ही है। अहिंसा मानव संस्कृति का केंद्रस्थ नैतिक मूल्य है। इस स्थापना के समर्थन में सबसे पहले वे स्थापित धर्मों से तर्क जुटाते हैं। उनका कहना है कि 'सृष्टि की उत्पत्ति और ईश्वर की अवधारणा में भिन्नता के बावजूद मनुष्य से जिस आचरण की अपेक्षा की जाती है, उसमें कोई भेद नहीं है और इस आचरण की कसौटी अहिंसा है, जिसे प्रेम, करुणा, आनृशंस्य, अनुकम्पा, दया आदि विभिन्न नामों से व्यंजित किया गया है'।[2] साक्ष्य के रूप में वे वैदिक-अवैदिक, जैन, बौद्ध, ईसाई, इसलाम, ताओवाद, कन्फ़्यूशयस, सिनिकवाद, स्टोइकवाद और एपीक्यूरियनवाद के ग्रंथों का हवाला देते हैं और उद्धरणों के ज़रिये सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि सभी में अहिंसा को केंद्रीय स्थान प्राप्त है। इस संदर्भ में इसलाम में जेहाद की विवादास्पद अवधारणा के बारे में उनकी मान्यता है कि 'जेहाद का तात्पर्य धार्मिक युद्ध से न होकर अपने अंदर की बुरी प्रवृत्तियों और बाहरी सामाजिक अन्याय के विरुद्ध संघर्ष से है।'[3] किंतु यह ज़रूरी तो नहीं कि सामाजिक अन्याय के विरुद्ध संघर्ष अहिंसक ही हो, जबकि वे स्वयं मानते हैं कि 'क़ुरान में अहिंसा को हिंसा से बेहतर बताया गया है। अहिंसा को फ़र्ज़ बताया गया है, जबकि हिंसा की इजाज़त ज़रूरत पड़ने पर ही दी गयी है।'[4] सवाल उठता है कि इस बात का निर्णय कैसे होगा और कौन करेगा कि किन्हीं परिस्थितियों में हिंसा की ज़रूरत है या नहीं? यदि यह मान भी लिया जाए कि इसलाम के मानने वालों ने तलवार का प्रयोग क़ुरान के उपदेश के कारण नहीं अपितु परिस्थितिवश किया, तो फिर व्यावहारिक स्तर पर यह बात कमोबेश सभी धर्मों के अनुयायियों के बारे में भी कही जा सकती है। इतिहास में ईसाई, यहूदी, हिंदू, जैन, बौद्ध धर्मानुयायियों के आपसी और बाहरी युद्धों के उदाहरण भी कम नहीं हैं। धार्मिक आतंकवाद आज भी विश्व की प्रमुख समस्या है। दरअसल धर्म को धार्मिक पुस्तकों में प्रतिपादित मान्यताओं तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता और न इस आधार पर हिंसा/अहिंसा से उनके संबंधों की सही जाँच-परख सम्भव है। हमें इन मूल प्रश्नों से भी टकराना होगा— क्या धर्म से जुड़ी हिंसा से धर्मों का कुछ भी लेना-देना नहीं है? क्या धर्म उस हिंसा के लिए माध्यम मात्र है जो या तो मनुष्य के स्वभाव में जन्मजात है या बाहर से लाई गयी है? या कि हिंसा धर्म की संरचना में ही निहित है? यदि अपनी उत्कृष्टतम उपलब्धियों के लिए धर्म को सम्मान दिया जाता रहा है तो अपने निकृष्टतम रूपों में अभिव्यक्ति के लिए भी धर्म के उत्तरदायित्व पर विचार करना आवश्यक है या नहीं?

वास्तव में धर्म के कई प्रकट और अप्रकट प्रकार्य हैं। जहाँ एक ओर धर्म, व्यक्ति और समाज में सहयोग को बढ़ावा देकर एकीकरण की प्रक्रिया को बल देता है, वहीं कई अर्थों में यह अपने अनुयायियों को दूसरे धर्म के अनुयायियों से पृथक् भी करता है। यही अलगाव, संकीर्णता, कट्टरता,

---

[1] नंदकिशोर आचार्य (सम्पा.) (2010), 'पुरोवाक्', *अहिंसा-विश्वकोश,* प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर : 9.
[2] वही : 11.
[3] वही : 15.
[4] वही : 15.

धर्म की संरचनाओं में ऐसे कई तत्त्व हैं जो मनो-सामाजिक प्रक्रियाओं से एक विद्वेषपूर्ण अस्मिता को जन्म देते हैं। यह अस्मिता विद्वेषपूर्ण राजनीतिक विचारधारा में विकसित होकर हिंसा का स्थायी कारक बन जाती है। अत: हिंसा भी धर्म की एक प्रवृत्ति है। विशेष परिस्थितियों में धर्म हिंसा का जनक, वाहक और पैरोकार बन जाता है इस सच्चाई को नज़रअंदाज़ करके धर्म और अहिंसा के संबंधों का विमर्श अधूरा ही रहेगा। ... यदि गाँधी का प्रादुर्भाव न हुआ होता तो शायद हम आज अहिंसा की चर्चा इतने बृहद् रूप में न कर रहे होते। अहिंसा का विश्वकोश बनाने का विचार भी शायद पैदा नहीं होता। इसलिए इस बात को रेखांकित करना आवश्यक है कि किन अर्थों में गाँधी की अहिंसा परम्परागत धर्मों में वर्णित अहिंसा से भिन्न है।

एकांगीपन और दूसरे धर्मावलंबियों के प्रति भावात्मक घृणा का आधार बनता है जो समय-समय पर हिंसक संघर्षों में प्रतिफलित होता है। आज अस्मिता का प्रश्न प्रमुख हो गया है, अत: धर्म की अन्य भूमिकाओं की तुलना में अस्मिता निर्माण में उसकी भूमिका का अध्ययन अधिक प्रासंगिक है। धर्म की संरचनाओं में ऐसे कई तत्त्व हैं जो मनो-सामाजिक प्रक्रियाओं से एक विद्वेषपूर्ण अस्मिता को जन्म देते हैं जो विद्वेषपूर्ण राजनीतिक विचारधारा में विकसित होकर हिंसा का स्थायी कारक बन जाती है। अत: हिंसा भी धर्म की एक प्रवृत्ति है। विशेष परिस्थितियों में धर्म हिंसा का जनक, वाहक और वैधता प्रदान करने वाला है। इस सच्चाई को नज़रअंदाज़ करके धर्म और अहिंसा के संबंधों का विमर्श अधूरा ही रहेगा। इसी कारण नंदकिशोर आचार्य की अहिंसा को धर्मों के आधार पर सार्वभौम मूल्य की तरह स्थापित करने की योजना एकांगी प्रतीत होती है।

हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि विश्व इतिहास के पटल पर यदि गाँधी का प्रादुर्भाव न हुआ होता तो शायद हम आज अहिंसा की चर्चा इतने बृहद् रूप में न कर रहे होते। अहिंसा का विश्वकोश बनाने का विचार भी शायद पैदा नहीं होता। इसलिए यह बात रेखांकित करना आवश्यक है कि किन अर्थों में गाँधी की अहिंसा परम्परागत धर्मों में वर्णित अहिंसा से भिन्न है। यह भिन्नता तब और स्पष्ट होकर सामने आती है जब हम 'हिंसा मुक्ति' के संदर्भ में गाँधी-विचार की तुलना पिछली शताब्दी के आध्यात्मिक विचारक जिद्दू कृष्णमूर्ति के विचारों से करते हैं। जहाँ परम्परागत धर्मों (कृष्णमूर्ति सहित) का सारा ध्यान स्वयं को हिंसामुक्त करने में है, वहीं गाँधी की मुख्य समस्या यह है कि दूसरे की हिंसा से कैसे निबटा जाए। इसी कारण जहाँ परम्परागत धर्म मन की गहराई में, भीतरी परतों में दबी हिंसा से हमारा साक्षात्कार गहरी अंतर्दृष्टि के साथ कराते हैं, लेकिन दूसरे की हिंसा से निबटने के सवाल पर ज़्यादा ध्यान नहीं देते, वहीं गाँधी हिंसा के सामाजिक-राजनीतिक पक्ष की गहरी छानबीन करते हैं लेकिन मन की गहराई में कम ही झाँकते हैं। अत: जहाँ धर्मों का सारा ज़ोर स्वयं के रूपांतरण या साधना द्वारा हिंसा के परे जाने पर है, वहीं गाँधी अहिंसक सत्याग्रह द्वारा हिंसक व्यक्ति का हृदय परिवर्तन करना चाहते हैं और धीरे-धीरे सामाजिक स्तर पर अहिंसक क्रांति घटित करने की बात करते हैं।

गाँधी निश्चय ही हिंसा-मुक्ति के मानव प्रयास में अहिंसा की शक्ति के बारे में पूर्व-धारणाओं को चुनौती देने में सफल हुए। मानना होगा कि उन्होंने अहिंसा को व्यक्तिगत जीवन के संकीर्ण दायरे से निकाल कर सामाजिक हिंसा से निपटने में प्रयोग करके एक आवश्यक और सराहनीय क़दम उठाया, भले ही उन्हें पूरी सफलता न मिल सकी। सदियों से राजनीतिक ग़ुलामी की शिकार भारतीय जनता को ब्रिटिश शासन के विरुद्ध मुक्ति-संघर्ष के लिए संगठित करने में नीति के रूप में अहिंसा की शक्ति को कोई नकार नहीं सकता। लेकिन देश के विभाजन के बाद जब हिंदू-मुसलिम दंगे हुए तो गाँधी को भी मानना पड़ा कि इस क्षेत्र में अहिंसा को पूरी तरह सफलता नहीं मिल सकी। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद पूँजीपतियों और भूस्वामियों के आर्थिक शोषण को दूर करने में भी अहिंसा को ज़्यादा सफलता नहीं मिल पायी। इसी तरह दलितों के प्रति सवर्णों के सामूहिक हृदय-परिवर्तन में भी अहिंसा सफल नहीं हो पायी।

आख़िर क्यों? क्या जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं से वंचित मनुष्य की प्रतिरक्षात्मक हिंसा और आवश्यकतापूर्ति के साधनों से वंचित करने वालों की आक्रामक हिंसा को एक ही तराजू पर तौलना ठीक होगा? क्या बार-बार अहिंसक सत्याग्रह की विफलता या उसकी सम्भावनाओं के कठोर दमन की स्थिति में हमें क्रांतिकारी हिंसा की मुक्तिदायी सम्भावनाओं की ओर नहीं सोचना चाहिए?

एक हिंसामुक्त समाज की रचना के लिए उपाय के रूप में हिंसा को अपनाना कार्ल मार्क्स की दृष्टि में क्षम्य तो फ्रैंज़ फ़ानो, ज्याँ-पॉल सार्त्र, हरबर्ट मारक्यूज़े जैसे विचारकों की दृष्टि में वरेण्य रहा है। वरेण्य मानने वालों का तर्क है कि हिंसा दबे हुए लोगों को उनकी हीनता-ग्रंथि, निराशा और निष्क्रियता से मुक्ति दिला कर अभय और आत्मसम्मान लौटाती है। फ़ानो की विख्यात रचना *द रेचेड ऑफ़ द अर्थ* की भूमिका में सार्त्र लिखते हैं कि जब एक मूल अफ़्रीकी किसी उपनिवेशक यूरोपियन की हत्या करता है तो वह एक पत्थर से दो शिकार करता है। वह शोषक और शोषित दोनों को ख़त्म कर देता है। जो बचता है वह अपने पैरों पर खड़ा स्वतंत्रता-बोध युक्त आत्माभिमानी मनुष्य होता है। इस तरह हिंसा मुक्ति के दर्शन के रूप में सामने आती है। हमारे देश में भी चाहे बाल गंगाधर तिलक हों या भगतसिंह, हिंसा को सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन का औज़ार मानने वालों की कमी नहीं रही है। नंदकिशोर आचार्य ने उक्त मान्यता का खण्डन अपने तर्कों के माध्यम से करके हिंसा की अवांछनीयता को स्थापित करने का प्रयास किया है। उनका कहना है कि 'हिंसा निष्काम हो तब भी वह शक्ति के नियम से ही परिचालित होगी। निष्काम हिंसा के माध्यम से यदि हम किसी तात्कालिक उद्देश्य में सफल भी होते हैं, तब भी उससे हिंसा या शक्ति के नियम की सफलता ही तो प्रमाणित होगी, जो अन्याय का मूल है।'[5] इस संदर्भ में वे जयप्रकाश नारायण को उद्धृत करते हैं जिनकी मान्यता है कि 'हिंसक क्रांति के लिए उन्हें कोई नैतिक आपत्ति नहीं है, लेकिन न तो वह जल्दी हो पाती है और न ही कोई हिंसक क्रांति आज तक अपने मूल उद्देश्य को पा सकती है।'[6] दूसरे, यह भी देखा गया है कि राजनीतिक हिंसा के प्रति-क्रांतिकारी होने की सम्भावना अधिक रहती है। इसके अलावा वे महात्मा गाँधी, राममनोहर लोहिया और मानवेंद्र नाथ राय की भविष्यवाणी की भी चर्चा करते हैं कि हिंसा के बल पर खड़ी की गयी कोई चीज़ ज़्यादा टिक नहीं सकती। इतिहास ने भी इस बात को सच साबित किया है। उनकी मान्यता है कि विश्व-संस्कृति के विकास में युद्धों की वास्तविक भूमिका को बढ़ा-चढ़ा कर बताया जाता रहा है। लेकिन धीरे-धीरे विश्व-जनमत हिंसक उपायों का समर्थक नहीं रह गया है। यह बात केवल युद्ध या स्थूल हिंसा के लिए ही नहीं बल्कि हिंसा के सूक्ष्म और संरचनागत रूपों के बारे में भी सच है। उनका कहना है कि 'मानवाधिकारों की व्यापक स्वीकृति इस बात का प्रमाण है कि विश्व-जनमत ने अहिंसा को वैयक्तिक और सामूहिक आचरण की केंद्रीय प्रेरणा और कसौटी के रूप में कम से कम सैद्धांतिक स्तर पर तो स्वीकार कर ही लिया है।'[7]

उच्च नैतिक मूल्य के रूप में अहिंसा की स्वीकृति के बावजूद, सामाजिक परिवर्तन/क्रांति के लिए आवश्यक हिंसा का प्रश्न सदा से विवादास्पद रहा है। इस क्षेत्र में अहिंसा-प्रयोग की सम्भावनाएँ निरंतर बढ़ रही हैं। किंतु हमें यह भी पूछना चाहिए कि किन्हीं परिस्थितियों में अहिंसा की लगातार विफलता का विकल्प क्या है? ऐसे में शोषितों में जो आत्म-विध्वंस पनपता है उससे निजात कैसे मिले? इस बिंदु पर क्रांतिकारी हिंसा के पक्ष में फ़ानो का तर्क शोषित के मन में विरेचन की प्रक्रिया द्वारा आत्म-गौरव जगाने में सहायक होने पर टिका है। क्रांतिकारी हिंसा भी अपने उद्देश्य में सफल हो, यह भी ज़रूरी नहीं है। लेकिन शोषित में मनुष्यता जगाने की क्षमता के कारण इतनी गुंज़ाइश तो

[5] वही : 36.

[6] वही : 35.

[7] वही : 38.

शरीर-क्रिया वैज्ञानिकों और तंत्रिका-मनोवैज्ञानिकों में इस बात पर सर्वसम्मति नहीं है कि हिंसा मनुष्य के मूल स्वभाव में नहीं है। शोधार्थियों का एक बड़ा वर्ग यह मानता है कि हिंसा यदि अंतर्जात है भी तो उसकी अभिव्यक्ति बाध्य उत्तेजना या परिस्थितिगत दबाव से प्रतिक्रिया में होती है। मानव में कुछ ऐसी शरीर क्रियात्मकता अवश्य है जिसे लड़ाई के लिए बाहर से उत्तेजित किया जा सकता है। यदि हमारी सामाजिक संरचना में हिंसात्मक प्रतिक्रिया का उत्तेजन पैदा करने वाली परिस्थिति न हो तो मनुष्य की आक्रामकता को उभरने का मौका नहीं मिलेगा।

क्रांतिकारी हिंसा के लिए छोड़नी ही होगी। अहिंसक क्रांति के दौरान भी छिटपुट हिंसा को अवांछनीय किंतु अनिवार्य मानकर नज़रअंदाज़ तो किया ही जाता है। गाँधी भी हिंसा को कायरता से श्रेष्ठ मानते थे। अत: अहिंसा की आवश्यकता और महत्त्व को समझते हुए हमें साधनात्मक अहिंसा के प्रश्न पर थोड़ा लचीला होना चाहिए। अहिंसक आंदोलन की केंद्रीयता स्वीकार करते हुए भी क्या यह मानना ग़लत नहीं होगा कि भारतीय स्वाधीनता संग्राम की सफलता के पीछे क्रांतिकारियों का कोई योगदान नहीं था?

यदि कोई व्यक्ति धर्म-नीति-दर्शन में विश्वास न रखता हो तो क्या अहिंसा का कोई विज्ञान-सम्मत आधार भी है? आचार्य इसका उत्तर हाँ में देते हैं और इसके समर्थन में अर्ने नेस्स की 'गहन पारिस्थितिकी', जेम्स लवलाक द्वारा प्रतिपादित 'पृथ्वी सिद्धांत', रूसी वैज्ञानिक ब्लादिमीर इवानोविच वर्नादस्की द्वारा प्रतिपादित 'चेतना मण्डल का सिद्धांत', प्रिंस क्रोपॉटकिन की पारस्परिक सहयोग की विकासवादी धारणा, ब्लादिमीर सर्गेयेविच सोलोव्योव और पितरम सोरोकिन के विचारों से तर्क जुटाते हुए आधुनिक भौतिकी के 'एकीकृत क्षेत्र-सिद्धांत' और क्वांटम सिद्धांत तक की लम्बी विचार-यात्रा तय करते हैं। इस सबके पीछे उनका उद्देश्य जीवन ही नहीं अपितु सम्पूर्ण ब्रह्मांड के एकत्व के विचार को पुष्ट करना है। इसे अहिंसा की विज्ञान-सम्मत तत्त्वमीमांसा के रूप में देखा जा सकता है। उसी संदर्भ में वे डेविड बोम, पीटर सिंगर, नोआम चोमस्की के विचारों से भी समर्थन जुटाते हैं। गाँधी और अरविंद तो हैं ही। यहाँ इन सभी सिद्धांतों की समीक्षा का समय और स्थान नहीं है, किंतु यह प्रश्न तो पूछा जा ही सकता है कि एकत्व का सिद्धांत इतना वैज्ञानिक है तो फिर जैव-विकास और मानव-इतिहास में इतनी हिंसा क्यों?

धर्म-दर्शन और विज्ञान द्वारा संपोषित जीवन में एकत्व के बोध के आधार पर अहिंसा को केंद्रीय मानव मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित करना आचरण में अहिंसक होने की गारंटी नहीं है। क्योंकि जैसा कि सम्पादक ने स्वयं माना है कि 'यदि मानव मन की बनावट में अहिंसा एक स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं है तो आचरण में उसके चरितार्थ होने की सम्भावना नगण्य ही रहती है।'[8] इसलिए इस सवाल का उत्तर पाना ज़रूरी है कि हिंसा या आक्रामकता मनुष्य में अंतर्जात है अथवा अर्जित या परिस्थितिगत। शरीर-क्रिया वैज्ञानिकों और तंत्रिका-मनोवैज्ञानिकों में इस बात पर सर्वसम्मति नहीं है कि हिंसा मनुष्य के मूल स्वभाव में नहीं है। शोधार्थियों का एक बड़ा वर्ग यह मानता है कि हिंसा यदि अंतर्जात है भी तो उसकी अभिव्यक्ति बाध्य उत्तेजना या परिस्थितिगत दबाव से प्रतिक्रिया में होती है। जे. पी. स्काट, झिंग यांग कुओ, इबिल-इवेसफेल्ट और बर्कोविट्ज जैसे अध्येताओं का मानना है कि आक्रामकता अंतर्जात नहीं बल्कि बाह्य उत्तेजना की प्रतिक्रिया है। स्कॉट यह तो ज़रूर मानते हैं कि मानव में कुछ ऐसी शरीर क्रियात्मकता अवश्य है जिसे लड़ाई के लिए बाहर से उत्तेजित किया जा सकता है। इसीलिए यदि हमारी सामाजिक संरचना में हिंसात्मक प्रतिक्रिया का उत्तेजन पैदा करने वाली परिस्थिति न हो तो मनुष्य की आक्रामकता को उभरने का मौक़ा नहीं मिलेगा। यहाँ आचार्य एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाते हैं कि क्या आक्रामकता

[8] वही : 28.

अनिवार्यत: हिंसक ही होती है ? क्या आक्रामकता धनात्मक या अहिंसक भी हो सकती है ?' एडलर जैसे मनोविज्ञानी आक्रामकता को अंतर्जात मानते हुए भी अनिवार्यत: हिंसक नहीं, बल्कि मनुष्य और समाज के विकास के लिए उपयोगी मानते हैं।

उक्त संदर्भ में नवफ्रॉयडवादियों जैसे एरिक फ्रॉम, हार्नी और सल्लिवन का मत काफ़ी महत्त्वपूर्ण है। वे जैविक आवेगों और आवश्यकताओं के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी उन्हें मानवीय आचरण को प्रभावित करने वाली सर्वाधिक प्रबल प्रवृत्ति नहीं मानते। अपने विस्तृत अध्ययन और अनुभव के आधार पर फ्रॉम यह निष्कर्ष स्थापित करते हैं कि 'मनुष्य केवल जैविक आवेगों से निर्मित नहीं है, बल्कि ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में जिन मानवीय प्रवृत्तियों यथा स्वतंत्रता, प्रेम, सामाजिकता आदि का उसमें विकास हुआ है, वे ही उसकी जीवन शैली और आचरण को प्रभावित करने वाली प्रेरक शक्तियाँ हैं— उन्हें किसी भी तरह जैविक आवेगों से दूसरे दर्जे की प्रवृत्तियाँ नहीं माना जा सकता।'[9] इस तरह वे स्वतंत्रता और सामाजिकता को, जो सामाजिक चिंतन में मूल्य का दर्जा रखते हैं, मानव स्वभाव की सहजवृत्ति बना देते हैं। वे मानते हैं कि प्रेम जैसी भावनाएँ मनुष्य के ऐतिहासिक-सांस्कृतिक विकास का परिणाम हैं, उन्हें कभी पूर्णत: और सदैव के लिए समाप्त नहीं किया जा सकता। चाहें तो हम इन्हें जैविक न भी मानें, चेतना के गुणोत्कर्ष का परिणाम ही स्वीकारें लेकिन इससे इनका महत्त्व कम नहीं हो जाता। पाशविकता के स्तर से मनुष्य की चेतना के विकास का तात्पर्य उसका निरंतर अहिंसक होते जाना है— विधायी अर्थों में। इसलिए सेविले उद्घोषणा के निष्कर्ष 'मनुष्यता युद्ध के लिए जीव-विज्ञान द्वारा अभिशप्त नहीं है और जिस प्रजाति (अर्थात् मानवजाति) ने युद्ध का आविष्कार किया वही शांति का आविष्कार करने में भी समर्थ हैं'[10] से बहुत दूर तक सहमत हुआ जा सकता है। यही दृष्टि आचार्य के इस श्रमसाध्य उपक्रम को एक गहरा औचित्य प्रदान करती है। हिंसा का युग समाप्त हो सकता है— यदि हम दूसरे विकल्पों को अपनाने का निश्चय करें। वह अहिंसा ही हो सकती है। इसीलिए भविष्य में सम्भावना की दृष्टि से भी अहिंसा-विश्वकोश का सम्पादन प्रासंगिक है।

अक्सर जब हम अहिंसा की बात करते हैं तो हमारा संदर्भ बहुत स्थूल और दैहिक होता है। लेकिन पिछले कुछ दशकों में हिंसा के बारे में बदले नज़रिये के कारण अहिंसा-विचार और भी व्यापक हुआ है। हिंसा केवल व्यक्तिगत प्रवृत्ति नहीं है, सामाजिक स्तर पर यह विभिन्न संस्थाओं में सूक्ष्म रूप से अंतस्थ रहती है। इसे ही आज संरचनात्मक हिंसा (स्ट्रक्चरल वॉयलेंस) कहते हैं, जिससे हम बौद्धिक-सांस्कृतिक और विचारात्मक हिंसा को भी शामिल कर सकते हैं। जाति, नस्ल, वर्ग, लिंग, भाषा, राष्ट्र, धार्मिक सम्प्रदाय के आधार पर किया जाने वाला शोषण, दमन, अपमान आदि हिंसा के ही सूक्ष्म प्रतिरूप हैं। इसलिए मानव चेतना के आगामी विकास के अहिंसा की ओर उन्मुख होने की एक ज़रूरी शर्त अहिंसक समाज की स्थापना है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य के आर्थिक जीवन और उत्पादन की प्रक्रिया को अहिंसा की परिधि में लाना होगा। हमें अर्थ-केंद्रित विकास की अवधारणा छोड़ कर एक समग्र दृष्टि अपनानी होगी। ख़ुशी की बात है कि नंदकिशोर आचार्य इसके प्रति पूरी तरह सचेत हैं तभी तो अपने लेख के अंत में वे कहते हैं, 'अहिंसा का सवाल इसलिए समग्र जीवन दृष्टि का सवाल है—इसे वैयक्तिक खान-पान, अंतर्वैयक्तिक आचरण या दया-दान तक सीमित करके नहीं देखा जा सकता है। इसके राजनीतिक-आर्थिक और सामाजिक-सांस्कृतिक आयामों को समझे बिना बहुस्तरीय और बहुआयामी संरचनात्मक हिंसा को समझना और उसके समाधान की दिशा

[9] वही : 33.
[10] वही : 34.

में सचेष्ट होना सम्भव नहीं हो सकेगा। वैयक्तिक-पारिवारिक से लेकर वैश्विक स्तर तक अहिंसा का स्वीकार ही स्वस्थ जीवन का आधार हो सकता है।'[11] अब देखना केवल इतना है यह समग्र दृष्टि अहिंसा-विश्वकोश की रचना-सम्पादन में कितनी प्रतिफलित हो सकी है।

अहिंसा के प्रति समग्र दृष्टि अपनाने का आवश्यक परिणाम यह हुआ है कि कोश की प्रविष्टियाँ बहुआयामी हैं। इनमें अहिंसा को नैतिकता, धर्म, विज्ञान, सामाजिक-राजनीतिक दर्शन और जीवन दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में जाँचा परखा गया है। प्रविष्टियों की प्रामाणिकता के बारे में भी संदेह नहीं किया जा सकता, क्योंकि ये अपने-अपने विषय के उद्‌भट विद्वानों द्वारा लिखी गयी हैं। इनमें कुछ प्रमुख नाम हैं— सामदोग रिनपोचे, कृष्णनाथ, पुरुषोत्तम अग्रवाल, कृष्ण दत्त पालीवाल, राजेंद्र स्वरूप भटनागर, शिव नारायण जोशी, असग़र अली इंजीनियर, मस्तराम कपूर, राजाराम भादू, दयानंद वर्मा, बच्छराज दुग्गड़, कमल नयन काबरा, आचार्य महाप्रज्ञ, गिरीश मिश्र, अख़्तरुल वासे और स्वयं नंदकिशोर आचार्य। इन छोटी किंतु गम्भीर, गवेषणात्मक प्रविष्टियों के माध्यम से इस कोश ने अहिंसा को एक सार्वभौम प्रत्यय के रूप में स्थापित करने में सफलता पायी है कि जो जितना प्राचीन है, उतना ही आधुनिक, जितना पूर्वी है उतना ही पश्चिमी, जितना स्थानीय है उतना ही वैश्विक।

कोश की प्रविष्टियाँ बहुआयामी हैं। इनमें अहिंसा को नैतिकता, धर्म, विज्ञान, सामाजिक-राजनीतिक दर्शन और जीवन दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में जाँचा परखा गया है। प्रविष्टियों की प्रामाणिकता के बारे में भी संदेह नहीं किया जा सकता, क्योंकि ये अपने-अपने विषय के उद्‌भट विद्वानों द्वारा लिखी गयी हैं। इन छोटी किंतु गंभीर, गवेषणात्मक प्रविष्टियों के माध्यम से इस कोश ने अहिंसा को एक सार्वभौम प्रत्यय के रूप में स्थापित करने में सफलता पायी है कि जो जितना प्राचीन है, उतना ही आधुनिक, जितना पूर्वी है उतना ही पश्चिमी, जितना स्थानीय है उतना ही वैश्विक।

प्रस्तुत अहिंसा-विश्वकोश की एक विशेषता यह भी है कि इसमें अहिंसा से जुड़े विवादित विषयों जैसे इसलाम में अहिंसा, जिहाद, या सामाजिक क्रांति के लिए की जाने वाली क्रांतिकारी हिंसा के विमर्श से परहेज़ नहीं किया गया है। गीता में अहिंसा विषय पर महात्मा गाँधी का आलेख है। निश्चय ही कई पाठक शोधार्थी इनमें व्यक्त मतों से अपने को असहमत पा सकते हैं और उन्हें ये प्रविष्टियाँ एकपक्षीय भी लग सकती हैं लेकिन उन विषयों के महत्त्व को देखते हुए उनकी अवहेलना का आरोप इस कोश पर नहीं लगाया जा सकता। शायद यह हिंसा के मुक़ाबले अहिंसा की श्रेष्ठता दर्शाने के अति उत्साही प्रयास के कारण हुआ है। इसे आगामी संस्करणों में सुधारा जा सकता है।

कोश की एक प्रमुख विशेषता इसमें अहिंसा के संरचनात्मक पक्ष से जुड़ी व्यापक प्रविष्टियाँ हैं जिनमें न केवल आर्थिक हिंसा, पितृसत्तात्मक हिंसा और सांस्कृतिक हिंसा की चर्चा है अपितु पर्यावरण संकट से जुड़ी गहन पारिस्थितिकी और प्रौद्योगिकीय अहिंसा पर भी विमर्श है। इससे भी आगे जाकर विकास के वर्तमान प्रारूप के विकल्प के रूप में सत्याग्रही विकास की चर्चा है। वास्तव में सत्याग्रह, मशीनीकरण और प्रौद्योगिकी से जुड़ी प्रविष्टियाँ इस कोश की विशिष्ट उपलब्धि ही कही जानी चाहिए। शायद इसका कारण नंदकिशोर आचार्य का स्वयं का तद्‌विषयक चिंतन ही है।

परम्परागत अहिंसा विमर्श में उसके ऋणात्मक पक्ष की प्रधानता रही है। इस अहिंसा कोश की एक विषेशता यह भी है कि इसमें अहिंसा के धनात्मक पक्ष— प्रेम, मैत्री आदि को भी यथोचित स्थान मिला है। जैन और बौद्ध ग्रंथों में मैत्री की चर्चा तो आँख खोलने वाली है। और भी अच्छा होता यदि

---

[11] वही : 43-44.

मित्रता के प्राचीन और आधुनिक, पश्चिमी विमर्श को भी कोश में स्थान मिलता। आगे इस कमी को दूर किया जा सकता है। यद्यपि एरिक फ्रॉम के प्रेम विषयक चिंतन की चर्चा तो है किंतु इतना ही काफ़ी नहीं है।

अहिंसा के प्रत्यय की लम्बी विकास यात्रा में अनेक चिंतकों-नेताओं का योगदान रहा है। उन सभी के अवदानों को अहिंसा कोश में समेटना एक चुनौतीपूर्ण किंतु आवश्यक कार्य है। इसे काफ़ी दूर तक सफलतापूर्वक निभाने में सम्पादक सक्षम रहे हैं। सम्पादक के रूप में यह नंदकिशोर आचार्य की महती उपलब्धि है क्योंकि यह विषय की गहरी जानकारी से ही सम्भव है जिसका विस्तार जीवन के विविध आयामों में निरंतर होता जा रहा है। निश्चय ही ऐसे विशद आयोजन में कुछ विशिष्ट नामों का छूट जाना स्वाभाविक है। जहाँ एक ओर समाज-विज्ञानी योहान गाल्टुंग (संरचनात्मक हिंसा-अहिंसा), पर्यावरणविद् अर्ने नेस्स (गहन पारिस्थितिकी) और भौतिक विज्ञानी डेविड बोम (अंतर्वलित तंत्र) की चर्चा कोश के समसामयिक चिंतन से जुड़ाव का परिचायक है, वहीं भीखू पारिख (अहिंसा का औचित्य), वी.के. कौल (अहिंसा का मनोविज्ञान), विलियम जेम्स (दि मॉरल इक्विवैलेंट ऑफ़ वार) की कमी कहीं खटकती भी है। और भी कई छोटे-बड़े नाम अगले संस्करण में जोड़े जा सकते हैं।

आक्रामकता और हिंसा में अंतर रेखांकित करना भी इस कोश की एक विशेषता है। आक्रामकता धनात्मक भी हो सकती है। लेकिन इसके लिए अहिंसा और नैतिक निर्णयों के बीच संबंध की जाँच-परख आवश्यक है। इस क्षेत्र में पियाजे, कोहलबर्ग और गिलीगन ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इस विषय पर भी आगे के संस्करण में विचार किया जाना चाहिए। इसी तरह शक्ति और अहिंसा के बीच क्या संबंध है या हो सकता है, इस विषय पर शार्प के अलावा बोल्डिंग, रोलो मे का काम भी महत्त्वपूर्ण है। उन्हें भी चर्चा में स्थान देने के बारे में विचार किया जा सकता है। कुछ लोगों का यह भी मानना है कि गाँधी की अहिंसा अंततः हिंसा का ही एक रूप है। इस दृष्टि से गाँधी और कृष्णमूर्ति के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन महत्त्वपूर्ण हो सकता है। एरिकसन की गाँधी के बारे में टिप्पणी 'लड़ाकू अहिंसा' के साथ बांडुरेन्ट की *द कॉन्क्वेस्ट ऑफ वॉयलेंस* की चर्चा भी होनी चाहिए।

अहिंसा की परिभाषा और वर्गीकरण से ज़्यादा महत्त्वपूर्ण अहिंसा के प्रयोग हैं। फिर चाहें वे आत्मरक्षा के लिए हों या सामाजिक परिवर्तन के वास्ते। इस संदर्भ में मार्टिन लूथर किंग और नेल्सन मंडेला के रंगभेद विरोधी आंदोलनों की चर्चा अहिंसा कोश में होना स्वाभाविक ही है, किंतु पिछले सालों में हुए अन्ना हजारे के आंदोलन का ज़िक्र भी कहीं आना ही चाहिए। यदि यह कोश के सम्पादन कार्य के समाप्ति के बाद का है तो विश्व के अन्य भागों में चल रहे ऐसे ही अन्य अहिंसक आंदोलनों से संबंधित प्रविष्टियों के साथ आगामी संस्करण में स्थान अपेक्षित है। इसी तरह वैश्वीकरण और सम्प्रेषण क्रांति के संदर्भ में भी अहिंसा से जुड़े कई मुद्दे हैं/हो सकते हैं जिन्हें आगे स्थान दिया जाना चाहिए। अहिंसक आंदोलनों में आज सोशल मीडिया की भूमिका भी ऐसा ही एक विषय हो सकता है।

एक अहिंसा-कोश में हिंसा के विमर्श को कितना स्थान मिलना चाहिए? यह एक विवादास्पद प्रश्न है। इतना तो तय है कि जब तक यह स्पष्ट न हो कि हम हिंसक क्यों हैं, अहिंसक समाज की कल्पना फलीभूत नहीं हो सकती। आज हिंसा का दायरा बहुत फैल चुका है। अब यह केवल अवचेतन में दमित या समाज की पारम्परिक संरचनाओं में निहित हिंसा नहीं रह गयी है, अपितु भूमण्डलीकरण के दौर में इसके नये-नये रूप उजागर हो रहे हैं। खुले बाज़ार की प्रतिस्पर्धा, परिवार, खेलकूद और यहाँ तक कि सेमिनार हाल भी हिंसा की नयी साइट्स में बदलते जा रहे हैं। ऐसे में मेरे विचार से हिंसा के विमर्श को भी अहिंसा-कोश में स्थान मिलना चाहिए। अपने 'पुरोवाक्' में सम्पादक ने इसकी यथेष्ट चर्चा की है किंतु यह काफ़ी नहीं है। इसे मूल कोश का भी आवश्यक अंग होना चाहिए।

अहिंसा के बोध, शोध, प्रशिक्षण और प्रयोग का अंतिम लक्ष्य तो विश्व-शांति ही है। शीत युद्ध की समाप्ति के बाद भी इसकी सम्भावना अभी दूर-दूर तक दिखाई नहीं देती। अपने अंतर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय,

स्थानीय, आपसी विवादों का शांतिपूर्ण समाधान कैसे करें, आज यह हमारी चिंता का प्रमुख विषय है। शांति के प्रयोग के साथ आज इस विषय पर गम्भीर शोध भी हो रहा है जो 'शांति-शोध' के नाम से जाना जाता है। आज शांति का अर्थ वैयक्तिक हिंसा की अनुपस्थिति मात्र नहीं रह गया है बल्कि संरचनात्मक हिंसा के न होने से भी है। इन्हें ऋणात्मक और धनात्मक शांति कह कर पुकारा जाता है। सामाजिक न्याय की स्थापना के बिना शांति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इस तरह शांति पाने का प्रयास का एक सिरा संघर्ष-सिद्धांत से जुड़ा हुआ है तो दूसरा सिरा विकास-सिद्धांत से। दोनों को उपलब्ध किये बिना सार्वभौम शांति का सपना अधूरा ही रहेगा। इस विषय को संक्षेप में अहिंसा कोश में स्थान मिला है। उम्मीद करनी चाहिए कि आगे के संस्करण में विकसित होते इस विषय को और भी स्थान मिल सकेगा।

भले ही यह बात चलन में हो पर बहुत दिक़्क़त देने वाली है कि अहिंसा-कोश की प्रविष्टियों की कोई अनुक्रमणिका नहीं दी गयी है। इस कारण अहिंसा से जुड़े किसी विषय पर पृष्ठ संख्या देख कर सीधे पहुँचना सम्भव नहीं है। फिर कई बार विषय के शीर्षक में थोड़ा फ़र्क़ रहने से भी ढूँढ़ने में ख़ासा वक़्त बरबाद हो जाता है। पाठकों की सुविधा के लिए मेरे विचार से अनुक्रमणिका अनिवार्य है। बाक़ी चीज़ों (काग़ज़, मुद्रण आदि) के अच्छे निर्वहन के लिए प्रकाशक प्राकृत भारती अकादमी ,जयपुर निश्चय ही बधाई के पात्र हैं।

अंत में, इस अहिंसा-कोश की उपयोगिता के बारे में कहा जा सकता है कि यह न केवल उनके लिए उपयोगी है जो पूर्ण अहिंसा के समर्थक हैं बल्कि उनके भी बहुत काम का है जो हिंसा को अनैतिक, लेकिन आवश्यक बुराई मानकर अहिंसा के विस्तार द्वारा एक अहिंसक समाज की रचना करना चाहते हैं। इसके अलावा यह उन शोध छात्रों, अध्यापकों, पत्रकारों, राजनीतिक कार्यकर्ताओं, सामान्य पाठकों आदि के लिए भी उपयोगी है जो अहिंसा-विषयक कोई प्रामाणिक जानकारी एक ही स्थान पर पाना चाहते हैं। निश्चय ही, अहिंसा के विकासमान प्रत्यय की, उसके विविध आयामों में, ऐतिहासिक विकास यात्रा को 778 पृष्ठों में समेटने का जो श्रमसाध्य कार्य नंदकिशोर आचार्य ने इस कोश के माध्यम से किया है वह अपने में बड़ा सार्थक और प्रासंगिक है। इसके लिए वे समस्त विद्वत् समाज की प्रशंसा के पात्र हैं। अहिंसक समाज के निर्माण के लिए यह एक ज़रूरी/महत्त्वपूर्ण प्रयास है।